श्रीदरबारीलाल जैन, कोठिया
एम०ए०, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जैनदर्शन में संलेखना का महत्त्वपूर्ण स्थान

[अद्यतन युग में जैन संस्कृति के मार्मिक तथ्यों को न समझने के कारण संलेखना जैसी जीवन की पवित्र क्रिया को भी आत्मघात की कोटि में ला खड़ा किया जाता है. वस्तुतः आत्मघात और अनशन में स्पष्टतः महद् अन्तर है. वह यह कि आत्मघात के लिये मनुष्य तब ही उत्प्रेरित होता है जब उसकी मनोवांछित विशिष्ट पौद्गलिक सामग्री प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होती या कारणवश कषाय के वशीभूत होकर संसार से ऊब कर जीवन नष्ट कर डालना चाहता है. अर्थात् नैराश्य-पूर्ण जीवन की अन्तिम अभिव्यक्ति मृत्यु में परिणत हो जाती है. जब कि संलेखना अनशन ठीक इसके विपरीत सत्य है.

मुमुक्षु आत्माओं के लिये देह की तब तक ही आवश्यकता मानी जाती है जब तक वह समतामूलक संयम की आराधना में सहायक है. तदनन्तर अनाकांक्षीभाव से, शरीर के प्रति तीव्र अनासक्तता के कारण जो शरीर-पात किया जाता है उसमें किसी भी प्रकार की स्वार्थपरक भावना या क्षोभ के अत्यंताभाव के कारण उसे आत्मघात की संज्ञा देना बुद्धि को अर्धचन्द्राकार देना है.

प्रश्न आन्तरिष्ट दृष्टि का है, न कि स्थूल देह का. प्रत्येक संस्कृति का जीवन और अध्यात्म के प्रति अपना निजी दृष्टिकोण होता है. —सम्पादक]

पृष्ठभूमि

जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि प्रवाह-सम्बन्ध है. जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका पुनः जन्म भी होता है.[1] इस प्रकार जन्म मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसी चक्र में आत्माओं को नाना क्लेश एवं दुःख उठाने पड़ते हैं. परन्तु कषाय और विषय-वासनाओं में आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को नहीं समझते. इसीलिए जब कोई पैदा होता है तो वे उसका 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष प्रकट करते हैं. लेकिन जब कोई मरता है तो उसकी मृत्यु पर कोई उत्सव नहीं किया जाता. प्रत्युत, शोक एवं दुःख प्रकट किया जाता है.

संसार-विरक्त व्यक्ति की वृत्ति इससे विपरीत होती है. वह अपनी मृत्यु का 'उत्सव' मनाता है और उसपर प्रमोद व्यक्त करता है. अतएव मनीषियों ने उसकी मृत्यु के उत्सव को **'मृत्युमहोत्सव'** के रूप में वर्णन किया है.[2] इस वैलक्षण्य को

---

१. जा तस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।—गीता २-२७.

२. संसारासक्तचित्तानां मृत्यर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम् ।
ज्ञानिन् ! भयं भवेत् कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थः पुरं यासि देहाद्देहान्तरस्थितिः ।—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव श्लो० १७, १०,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझना कठिन नहीं है. यथार्थ में सांसारिक जन संसार (विषय-कषाय के पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं. अतः उनके छोड़ने में उन्हें दुःख का अनुभव होता है और उनके मिलने में हर्ष होता है. परन्तु आत्मा तथा शरीर के भेद को समझने वाले ज्ञानी वीतरागी संत न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओं को ही, अपितु अपने शरीर को भी बन्धन मानते हैं. अतः उसके छोड़ने में उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है. वे अपना वास्तविक निवास स्थान-मुक्ति को समझते हैं तथा सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणों को अपना यथार्थ परिवार मानते हैं. फलतः साधुजन यदि अपने पार्थिव शरीर के त्याग को मृत्युमहोत्सव कहें तो कोई आश्चर्य नहीं है. वे अपने रुग्ण, अशक्त, कुछ क्षणों में जाने वाले और विपद्ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ने तथा नये शरीर को ग्रहण करने में उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, जीर्ण, मलिन और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोड़ने में तथा नवीन वस्त्र के परिधान में अधिक प्रसन्न होता है.[1]

इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर जैन श्रावक या साधु अपना मरण सुधारने के लिये शारीरिक विशिष्ट परिस्थितियों में सल्लेखना (समाधिमरण) ग्रहण करता है. वह नहीं चाहता कि शरीर-त्याग, रोते-विलखते, लड़ते-झगड़ते, संक्लेश करते और रागद्वेष की भट्टी में जलते हुए असावधान अवस्था में हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्जवल परिणामों के साथ विवेकपूर्ण स्थिति में वीरों की तरह उसका पार्थिव शरीर छूटे. सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक या साधु के इसी उद्देश्य की पूरक है. प्रस्तुत लेख में इसी के सम्बन्ध में जैन दृष्टि से कुछ प्रकाश डाला जा रहा है.

सल्लेखना का अर्थ

'**सल्लेखन**' शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है. इसका अर्थ है '**सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना**'[2]—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनों को कृश करना सल्लेखना है. जिस क्रिया में बाहरी शरीर का और भीतरी रागादि कषायों का, उनके निमित्त कारणों को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी दबाब के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है, उस क्रिया का नाम सल्लेखना अथवा समाधिमरण है. यह यावज्जीवन पालित एवं आचरित समस्त व्रतों तथा चारित्र की संरक्षिका है, इसलिए इसे '**व्रतराज**' कहा गया है. श्रावक के द्वारा द्वादश व्रतों और साधु के द्वारा महाव्रतों के अनन्तर पर्याय के अन्त में इसे ग्रहण किया जाता है.[3]

सल्लेखना का महत्त्व और उसकी आवश्यकता

अपने परिणामों के अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय, इन तीन बलों के संयोग का नाम जन्म है, उन्हीं के क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है. यह मरण दो प्रकार का है—एक नित्यमरण और दूसरा तद्भवमरण. प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है वह नित्यमरण है तथा शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव मरण है.[4] नित्य मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्मपरिणामों पर विशेष कोई प्रभाव नहीं

१. (क) जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।
स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थिर्यथा ।।—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५.
(ख) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरो पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।—गीता २-२२

२. सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना । कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना ।
—सर्वार्थसिद्धि । ७-२२.

३. मारणान्तिकी सल्लेखनां जोषिता—त० सू० ७-२२

४. स्वायुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम्. स्वपरिणामोपात्तस्यायुष : इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिण : मरणं द्विविधम्, नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति. तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः. तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवनिगमनम् —भट्ट अकलंकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक ७–२२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ता. पर शरीरान्त रूप जो तद्‌भवमरण है उसका कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म-परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है. इस तद्‌भवमरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिये ही सल्लेखना ली जाती है. सल्लेखना से अनन्त संसार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्ममरण का चक्र बहुत ही कम जो जाता है. जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारण पर बल देते हुए कहते हैं कि[1] **"जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता."** उन्होंने **सल्लेखना-धारक का महत्त्व बताते हुए यहां तक लिखा है[2] कि जो व्यक्ति अत्यन्त भक्ति के साथ सल्लेखनाधारक (क्षपक) के दर्शन-वन्दन-सेवादि के लिये उनके निकट जाता है वह व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोग कर अन्त में उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है."**

तेरहवीं शताब्दी के प्रौढ़ लेखक पंडित आशाधरजी ने भी इसी बात को बड़े ही प्राञ्जल शब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वस्थ शरीर, पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है और रुग्ण शरीर योग्य औषधों द्वारा उपचार के योग्य है. परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत व्याधि बढ़ती जाय तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट की तरह छोड़ देना ही श्रेयकर है.[3] वे असावधानी एवं आत्म-घात के दोष से बचने के लिये कुछ ऐसी बातों की ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्यमरण की सूचना मिल जाती है और उस हालत में व्रती को सल्लेखना में लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है.[4]

इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् ने भी प्रतिपादन किया है कि "जिस शरीर का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिक के प्रतीकार करने की शक्ति नष्ट हो गयी है वह शरीर ही विवेकी पुरुषों को बतलाता है कि उन्हें क्या करना चाहिए. अर्थात् यथाख्यातचारित्र रूप सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए.[5]

मृत्युमहोत्सव-कार तो यहां तक कहते हैं कि समस्त श्रुताभ्यास. तपश्चर्या और व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर सल्लेखनामरण, समाधिमरण, पण्डितमरण या वीरमरण पूर्वक शरीर त्याग करता है. वे लिखते हैं :

"जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषों को कायक्लेश आदि तप, अहिंसादि व्रत धारण करने पर प्राप्त होता है, वह फल अन्त समय में सावधानीपूर्वक किये गए समाधिमरण से जीवों को सहज में ही प्राप्त हो जाता है. अर्थात् जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है वह अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने पर प्राप्त हो जाती है.[6]

'बहुत काल तक किये गए उग्र तपों का, पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञान का एकमात्र फल

---

१. "एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठ भवे पमोत्तूण । —शिवार्य, भगवती आराधना.

२. सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएणं ।
भोत्तूण य देव-सुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं । —शिवार्य, भगवती आराधना.

३. कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा । —आशाधर, सागारधर्मामृत–८–६.

४. देहादिवैकृतैः सम्यक् निमित्तैस्तु सुनिश्चते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेदूरे न तत्पदम् ।—आशाधर, सा० ध० ८–१०.

५. प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् । लेखक—आदर्श सल्लेखना पृष्ठ १९ (उधृत)

६. यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना । —शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव, श्लो० २१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शान्ति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है. इसके विना उनका कोई फल नहीं है—केवल शरीर को सुखाना या ख्यातिलाभ करना है.'[१]

विक्रम की दूसरी शताब्दी के विद्वान् स्वामी समतंभद्र की मान्यतानुसार जीवन में आचरित अनशनादिक विविध तपों का फल अन्त समय में गृहीत सल्लेखना है. अतः अपनी पूरी शक्ति के साथ समाधिपूर्वक मरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए.[२]

आचार्य पूज्यपाद—देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को बतलाते हुए लिखते हैं[3] कि मरण किसी को इष्ट नहीं है. जैसे अनेक प्रकार के सोने, चांदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदि का व्यापार करने वाले किसी भी व्यापारी को अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नहीं हो सकता. यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ़, राज्यविप्लव आदि) कारण उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नहीं देखता तो घर में रखे हुए उन सोना, चांदी आदि बहुमूल्य पदार्थों को जैसे-बने-वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है. उसी तरह व्रतशीलादि गुणरत्नों का संचय करने वाला व्रती—मुमुक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नों के आधारभूत शरीर की प्राणप्रण से सदा रक्षा करता है—उसका विनाश उसे इष्ट नहीं होता. यदि कदाचित् शरीर में रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाये तो उनका वह पूरी शान्ति के साथ परिहार करता है. लेकिन जब असाध्य रोग, अशक्य उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असम्भव समझता है तो आत्मगुणों की रक्षा करता है तथा शरीर को नष्ट होने देता है."

इन उल्लेखों से सल्लेखना के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है. यही कारण है कि जैन-संस्कृति में सल्लेखना पर बड़ा बल दिया गया है. जैन लेखकों ने अकेले इसी विषय पर अनेकों स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं. आचार्य शिवार्य की **'भगवती आराधना'** इसी विषय का एक अत्यन्त प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है. इसी प्रकार **'मृत्युमहोत्सव'** आदि कृतियाँ भी लिखी गई हैं, जो इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती हैं.

सल्लेखना का प्रयोजन, काल और विधि

यद्यपि ऊपर के विवेचन से सल्लेखना का प्रयोजन और काल ज्ञात हो जाता है फिर भी नीचे उसे और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है. स्वामी समन्तभद्र ने सल्लेखना-धारण की स्थिति और उसका स्वरूप निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है—'जिसका उपाय न हो, ऐसे किसी भयंकर सिंह आदि क्रूर वन्यजन्तुओं द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आजाने पर, जिसमें शुद्ध भोजन-सामग्री न मिल सके ऐसे दुर्भिक्ष के पड़ने पर, जिसमें धार्मिक एवं शारीरिक क्रियायें यथोचित रीति से न पल सकें ऐसे बुढ़ापे के आजाने पर तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर धर्म की रक्षार्थ शरीर के त्याग करने को **'सल्लेखना'** कहा गया है.'[४]

---

१. तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ।—शान्ति सो० मृत्युमहो० श्लोक २३.

२. अन्तःक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ।—समन्तभद्र-रत्नकरण्ड श्रा० ५-२.

३. "मरणस्यानिष्टत्वात्. यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः. तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दुःपरिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते. एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवांछति. तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति. दुःपरिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते."
—सर्वार्थ सि० ७-२२.

४. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः । —समन्तभद्र-रत्नकरण्ड श्रा० ५-१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच बात तो यह है कि इन उल्लिखित चार संकटावस्थाओं में—जो व्यक्ति को झकझोर देने तथा विचलित कर देनेवाली हैं—आत्मधर्म से च्युत न होना और हँसते-हँसते साम्यभावपूर्वक उसकी रक्षा के लिये अवश्य जाने वाले शरीर का उत्सर्ग कर देना साधारण पुरुषों का कार्य नहीं है. वह तो असाधारण व्यक्तियों तथा उनकी असाधारण साधना का फल है. अतः सल्लेखना एक असामान्य वस्तु है. हमें शरीर तथा आत्मा के मध्य देखना होगा कि कौन अस्थायी है और कौन स्थायी ? निश्चय ही शरीर अस्थायी है और आत्मा स्थायी. ऐसी स्थिति में अवश्य नाश होने वाले शरीर के लिये अभीष्ट फलदायी धर्म का नाश नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि शरीर के नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है, किन्तु नष्ट धर्म का पुनः मिलना दुर्लभ है.[1] अतएव जो शरीर-मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्मा के अन्तर को ठीक तरह से समझते हैं तथा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं. जैन सल्लेखना में यही तत्त्व निहित है. इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त में प्रतिदिन यह पवित्र भावना करता है.[2]

"हे जिनेन्द्र मेरे दुःख का नाश हो, दुःख के कारण कर्म का भी नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण का लाभ हो तथा समाधिमरण के कारणभूत सम्यक्बोध की प्राप्ति हो. ये चारों वस्तुएँ हे देव ! हे जगद्बन्धु ! आपके चरणों की शरण से मुझे प्राप्त हों."

जैन सल्लेखना का यही पवित्र उद्देश्य और प्रयोजन है, जो सांसारिक किसी कामना या वासना से सम्बद्ध नहीं है. सल्लेखना-धारक की संसार के किसी भोग या उपभोग व इन्द्रादि पद की प्राप्ति के लिये राग और अप्राप्ति के लिये द्वेष जैसी जघन्य इच्छाएँ नहीं होतीं. उसकी सिर्फ एक विदेह-मुक्ति की भावना रहती है, जिसके लिये ही उसने जीवन-भर व्रत-तपादिपालन का घोर प्रयत्न किया है और अन्तिम समय में भी वह उस प्रयत्न से नहीं चूकना चाहता है. अतएव क्षपक को सल्लेखना में कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसे लेने में किस प्रकार की विधि अपनाना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी जैन शास्त्रों में विस्तृत और विशद विवेचन किया गया है.

आचार्य समन्तभद्र ने निम्न प्रकार सल्लेखनाविधि बतलाई है.[3]

सल्लेखना-धारक को सबसे पहले इष्ट वस्तुओं से राग, अनिष्ट वस्तुओं से द्वेष, स्त्रीपुत्रादि प्रिय जनों से ममत्व और धनादि में स्वामित्व की बुद्धि को छोड़ कर पवित्रमन होना चाहिए. उसके बाद अपने परिवार और अपने से संबन्धित व्यक्तियों से जीवन में हुए अपराधों को क्षमा कराये तथा स्वयं भी उन्हें **प्रियवचन बोलकर क्षमा करे** और इस तरह अपने अन्तःकरण को निष्कषाय बनाए.

---

१. नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ।।—आशाधर, सागारधर्मामृत—८-७.

२. दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य ।
मम होउ जगतबंधव तव जिणवर ! चरणसरणेण ।—भारतीय ज्ञानपीठ, पूजाञ्जलि पृ० ८७.

३. स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ।
आलोच्य सर्वमेनः कृत-कारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ।
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ।
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ।
खर-पान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ।—समन्तभद्र, रत्न क० श्रा० ५, ३-७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् वह जीवन में किये, कराये और अनुमोदित समस्त हिंसादि पापों की निश्छल भाव से आलोचना (खेद प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतों का अपने में आरोप करे.

इसके साथ ही शोक, भय, खेद, ग्लानि (घृणा), कलुषता और आकुलता को भी छोड़ दे तथा बल एवं उत्साह को जागृत करके अमृतोपम शास्त्रवचनों द्वारा मन को प्रसन्न रखे.

इस प्रकार कषाय को कृश करने के उपरान्त शरीर को कृश करने के लिये सल्लेखनाधारी सल्लेखना में सर्वप्रथम आहार (भक्ष्य पदार्थों) का त्याग करे और दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों पर निर्भर रहे. इसके अनन्तर उन्हें भी छोड़ कर कांजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे.

बाद में उन्हें भी त्याग कर शक्तिपूर्वक उपवास करे. इस प्रकार उपवास करते-करते एवं परमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण जाग्रत एवं सावधानी में शरीर का उत्सर्ग करे.'

यह सल्लेखना की विधि है. इस विधि से साधक (आराधक) अपने आनन्द-ज्ञान-धन आत्मा का साधन करता है और और भावी पर्याय को वर्तमान जीर्ण-शीर्ण नश्वर पर्याय से ज्यादा सुखी, शान्त, निर्विकार, नित्य, शाश्वत एवं उच्च बनाने का सफल पुरुषार्थ करता है. नश्वर से अनश्वर का लाभ हो तो उसे कौन विवेकी छोड़ने को तैयार होगा ? अतएव सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषों से[1] भी अपने को बचाता है, जो उसकी पवित्र सल्लेखना को दूषित करते हैं वे पाँच दोष निम्न प्रकार हैं :

सल्लेखना धारण करने के बाद जीवित बने रहने की आकांक्षा करना, शीघ्र मृत्यु की इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियों का स्मरण करना और आगे की पर्याय में सुखों की चाह करना, ये पाँच दोष हैं, जिन्हें अतिचार कहा है और जिनसे सल्लेखना-धारक को बचना चाहिए.

सल्लेखना का फल

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और प्राप्ति करने के कारण नियम से निःश्रेयस् और अभ्युदय प्राप्त करता है. स्वामी समन्तभद्र सल्लेखना का फल बतलाते हुए लिखते हैं कि "उत्तम सल्लेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण समस्त दुःखों से रहित होता हुआ निःश्रेयस् और अभ्युदय के अपरिमित सुखों को प्राप्त करता है."[2]

विद्वद्वर पं० आशाधरजी भी कहते हैं[3] कि 'जिस महापुरुष ने संसारपरम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्म रूपी महान् निधि को परभव में जाने के लिये साथ ले लिया है. जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास में पर्याप्त पाथेय रखने पर निराकुल रहता है. इस जीव ने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्यमरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्य एवं पुण्योदय से अब प्राप्त हुआ है. सर्वज्ञदेव ने इस समाधि सहित पुण्यमरण की बड़ी प्रशंसा की है क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चय से संसार-रूपी पिंजड़े को तोड़ देता है—उसे फिर संसार के बन्धन में नहीं रहना पड़ता है.'

---

१. जीवित-मरणाऽऽशंसे भय-मित्रस्मृति-निदाननामानः ।
सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ।—समन्तभद्र, र० क० श्रा० ५-८.

२. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ।—समन्तभद्र, र०क०श्रा० ५-६.

३. सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम् ।
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।
समाधिपुण्यो न परं परमाश्चरमक्षणः ।
वरं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ।—आशाधर, सागारधर्मामृत ७-५८,८-२७,२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षपक की सल्लेखना में सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम और श्रद्धा के साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी के साथ आत्म-साधना में गति-शील रहता है. उसके इस पुण्य कार्य में, जिसे एक 'महान् यज्ञ' कहा गया है, पूर्ण सफलता मिले और वह अपने पवित्र पथ से विचलित न होने पाये, इसके लिए अनुभवी मुनि-निर्यापकाचार्य उसकी सल्लेखना में सम्पूर्ण शक्ति एवं आदर के साथ उसे सहायता करते हैं और समाधिमरण में सुस्थिर रखते हैं. वे उसे सदैव तत्त्वज्ञान-पूर्ण मधुर उपदेशों द्वारा शरीर और संसार की असारता एवं नश्वरता बतलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो. 'भगवती आराधना' (गा ६५०-६७६) में समाधिमरण कराने वालों का बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हुए लिखा है :

"क्षपक की सल्लेखना कराने वाले मुनियों को धर्मप्रिय, दृढ़श्रद्धानी, पापभीरु, परीषहजेता, देशकालज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, त्यागमार्गमर्मज्ञ, अनुभवी, स्व-पर-तत्त्वविवेकी, विश्वासी और परोपकारी होना चाहिए. उनकी संख्या उत्कृष्ट ४८ और कम-से-कम २ होना चाहिए।"

"४८ मुनि क्षपक की इस प्रकार सेवा करें—४ मुनि क्षपक को उठाने बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल* करें. ४ मुनि धर्म श्रवण करायें. ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें. ४ मुनि रक्षा-देखभाल करें. ४ मुनि शरीर के मल-मूत्रादि के क्षेपण में तत्पर रहें. ४ मुनि वसतिका के द्वार पर रहें, जिससे अनेक लोग क्षपक के परिणामों में क्षोभ न कर सकें. ४ मुनि क्षपक की अराधना को सुन कर आये लोगों को सभा में धर्मोपदेश द्वारा सन्तुष्ट करें. ४ मुनि रात्रि में जागें. ४ मुनि देश की ऊंच-नीच स्थिति के ज्ञान में तत्पर रहें. ४ मुनि बाहर से आये गये लोगों से बातचीत करें. और ४ मुनि क्षपक के समाधिमरण में विघ्न करने की सम्भावना से आये लोगों से वाद(शास्त्रार्थ द्वारा धर्मप्रभावना) करें. ये महाप्रभावशाली निर्यापक मुनि क्षपक की समाधि में पूर्ण यत्न से सहायता करते हैं और उसे संसार से पार कराते हैं. भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल की विचित्रता होने से यथानुकूल अवसर में जितनी विधि बन जाये और जितने गुणों के धारक निर्यापक मिल जाएँ उतने भी समाधि करायें, अति श्रेष्ठ है. पर निर्यापक एक नहीं होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की २४ घंटे सेवा करने पर थक जायेगा और क्षपक की अच्छी तरह समाधि नहीं करा पायेगा.[1]

निर्यापक मुनि क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देकर समाधिमरण में सुस्थिर रखते हैं उसका पंडित प्रवर आशाधर जी ने निम्न प्रकार वर्णन किया है.[2]

"हे क्षपक ! लोक में ऐसा कोई पुद्गल नहीं, जिसे तुमने एक से अधिक बार न भोगा हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित न कर सका. पर-वस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है ? आत्मा का हित तो ज्ञान, संयम और त्याग, ये आत्मगुण ही कर सकते हैं. अतः बाह्य वस्तुओं से मोह को त्यागो और विवेक तथा संयम का आश्रय लो और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है, मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञानदर्शनरहित है. मैं आनन्द-धन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है."

---

१. पियधम्मा दढधम्मा संविग्गाऽवज्जभीरुणो धीरा।
छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू।
कप्पाकप्पे कुशला समाधिकरणज्जुदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवन्तो अडदालीसं तु णिज्जवया।
णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते। —शिवार्य, भगवती आराधना.

२. देखिए, आशाधर, सागारधर्मामृत, ८, ४८-१०७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखना को तुम अब तक धारण नहीं कर पाये थे, उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है. उस सल्लेखना में कोई दोष मत आने दो. तुम परीषह या वेदना के कष्ट से मत घबराओ. वे तुम्हारे आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकते. उन्हें तुम सहनशीलता एवं धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मों की असंख्यातगुणी निर्जरा करो."

"हे आराधक ! मिथ्यात्व का वमन करो, सम्यक्त्व का सेवन करो. पंचपरमेष्ठी का स्मरण करो और उनके गुणों में अनुराग करो तथा अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग में लीन रहो. अपने महाव्रतों की रक्षा करो. कषायों को जीतो. इन्द्रियों को वश में करो. सदैव आत्मा में ही आत्मा का ध्यान करो. मिथ्यात्व के समान दुःखदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक में अन्य कोई वस्तु नहीं है. देखो धनदत्त राजा का संघश्री मंत्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्व की विराधना की और मिथ्यात्व का सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूटी और संसार-चक्र में उसे घूमना पड़ा. राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बाद में सम्यग्दृष्टि बन गया, जिसके प्रभाव से अपनी बंधी हुई नरक स्थिति को कम करके उसने तीर्थंकर प्रकृत्ति का बन्ध किया तथा भविष्यत्काल में वह तीर्थंकर होगा."

"हे क्षपकराज ! तुमने आगम में अनेक बार सुना होगा कि पद्मरथ नाम का मिथिला का राजा "वासुपूज्याय नमः" कहता हुआ अनेक विघ्न-बाधाओं से पार हो गया था और भगवान् के समवसरण में पहुँचा था. वहाँ पहुँच कर उसने दीक्षा ले ली तथा भगवान् का शीघ्र गणधर बन गया था. यह अर्हन्तभक्ति का ही इतना बड़ा प्रताप था. सुभग नाम के ग्वाले ने 'नमो अरिहन्ताणं' इतना ही कहा था, जिसके प्रभाव से वह सुदर्शन हुआ और अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुआ."

"इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होंने परिषहों को एवं उपसर्गों को सहन करके महाव्रतों का पालन किया उन्होंने अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त किया. सुकुमाल को देखो, वे जब तप के लिये वन में गये और ध्यान में मग्न थे, तो शृगालिनी ने उन्हें कितनी निर्दयता से खाया, परन्तु सुकुमाल स्वामी जरा भी अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए. शिवभूति महामुनि को भी देखो, उनके सिर पर आंधी से उड़ कर घास का गांज आपड़ा था, परन्तु वे आत्म-ध्यान से तनिक भी नहीं डिगे और निश्चल वृत्ति से शरीर त्यागकर निर्वाण को प्राप्त हुए. पांचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे उस समय कौरवों के भानजे आदि ने पुरातन वैर निकालने के लिये गरम लोहे की सांकलों से बांधा और कीलें ठोंकी, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्ग सह कर उत्तम गति को प्राप्त हुए. युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सवार्थसिद्धि को प्राप्त हुए. विद्युच्चर ने कितना भारी उपसर्ग सहा और अन्त में सद्गति पाई."

"अतः हे आराधक ! तुम्हें इन महापुरुषों को अपना आदर्श बना कर धीरता-वीरता से सब कष्टों को सहन करते हुए आत्मलीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार हो और अभ्युदय तथा निर्वाण प्राप्त करो. जो जीव एक बार भी अच्छी तरह समाधिमरण करके शरीर त्यागता है वह ७-८ भव से अधिक संसार में नहीं घूमता.[1] अतः हे क्षपक ! तुम्हें अपना यह दुर्लभ समाधिमरण पूर्ण धीरता-वीरता, सावधानी एवं विवेक के साथ करना चाहिए, जिससे तुम्हें संसार में फिर न घूमना पड़े."

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपक को समाधिमरण में निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं. क्षपक के समाधिमरण रूप महान् यज्ञ की सफलता में इन महान् निर्यापक साधुओं का प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होने से आगम में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है:[2]—"वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो सम्पूर्ण आदर और शक्ति के साथ क्षपक को सल्लेखना कराते हैं."

---

१. शिवार्य भगवती आराधना.

२. ते चिय महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवहिदाराधणा सयला ।—शिवार्य, भ० आ० गाथा २०००.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सल्लेखना के भेद

जैन शास्त्रों में शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है[1] १. च्युत, २. च्यावित और ३. त्यक्त.

१. **च्युतः**—स्वतः आयु पूर्ण होने पर शरीर छूटता है वह च्युत कहलाता है.

२. **च्यावितः**—जो विष-भक्षण, रक्तक्षय, धातुक्षय, शस्त्राघात, संक्लेश, अग्निदाह, जलप्रवेश आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित कहा गया है.

३. **त्यक्तः**—जो रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता एवं मरणान्त होने पर विवेक सहित संन्यास रूप परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है वह त्यक्त है.

तीन तरह के शरीरत्यागों में त्यक्त-शरीरत्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्था में आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा उसे कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता.

इस त्यक्त शरीरत्याग को ही समाधिमरण, संन्यासमरण, पण्डितमरण, वीरमरण और सल्लेखनामरण कहा गया है. यह सल्लेखनामरण (त्यक्त शरीरत्याग) तीन प्रकार का प्रतिपादन किया है:[2] १. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनीमरण और ३. प्रायोपगमन.

१. **भक्तप्रत्याख्यान**—जिसमें अन्न-पान का क्रमशः अभ्यास पूर्वक त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा सल्लेखना कहते हैं. इसका काल—प्रमाण कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त है और अधिक-से-अधिक १२ वर्ष है. मध्यम, अन्तर्मुहूर्त से ऊपर और बारह वर्ष से नीचे का काल है. इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त परवस्तुओं से रागद्वेषादि छोड़ता है तथा अपने शरीर की टहल स्वयं भी करता है और दूसरों से भी कराता है.

२. **इंगिनीमरण**[3]— में क्षपक अपने शरीर की सेवा—परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरे से नहीं कराता. स्वयं उठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वयं करेगा. वह पूर्णतया स्वावलम्बन का आश्रय ले लेता है.
३. **प्रायोपगमन**[4]—में वह न अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की. आत्मा की ओर ही उसका सतत लक्ष्य रहता है और उसी के ध्यान में सदा रत रहता है. इस सल्लेखना को साधक तब ही धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्था में पहुँच जाता है तथा जिसका संहनन प्रबल होता है.

इनमें भक्तप्रत्याख्यान दो तरह का है—१. सविचार भक्तप्रत्याख्यान और २. अविचार भक्तप्रत्याख्यान. सविचार भक्तप्रत्याख्यान में आराधक अपने संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है. यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत में ग्रहण की जाती है. इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारों के विचार पूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है. इसी से इसे सविचार भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना. कहते हैं. पर जिस आराधक की आयु अधिक नहीं है और शीघ्र मरण होने वाला है तथा अब दूसरे संघ में जाने का समय नहीं है और न शक्ति है, वह मुनि अविचार भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण धारण करता है. इसके भी तीन भेद है. १. निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परमनिरुद्ध.

१. **निरुद्धः**—दूसरे संघ में जाने की पैरों में सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आजायें और अपने संघ में ही रुक जाय तो उस हालत में मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है. इसलिए इसे निरुद्ध

---

१. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य, गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५६, ५७, ५८.
२. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म० गा० ५६ तथा भग० आरा० गा० २६.
३. देखिये नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म० गा० ६१.
४. देखिये, नेमिचन्द्राचार्य —गो० कर्म गा० ६१. श्वेताम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में इसे 'पादपोपगमन' या 'पादोपगमन' कहते हैं.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविचार प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं. यह दो प्रकार का है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश. लोक में जिनका समाधि-मरण विख्यात हो जाये वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है.

२. **निरुद्धतर**—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट पुरुषों आदि के द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आने पर तत्काल आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं.

३. **परमनिरुद्ध**—सर्प, व्याघ्रादि भीषण उपद्रवों के आजाने पर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समय में मन में ही अरहन्तादि पंच परमेष्ठियों के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे उसे परम-निरुद्ध-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं.

समाधिमरण की श्रेष्ठता

ये तीनों (भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन) समाधिमरण उत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं. आचार्य शिवार्य ने (भगवती आराधना गाथा-२५ से ३० तक में) सत्तरह प्रकार के मरणों का उल्लेख करके उनमें पाँच[१] तरह के मरणों का वर्णन करते हुए तीन मरणों को प्रशंसनीय बतलाया है. वे तीनों मरण ये हैं.[२]

'पंडितपंडितमरण, पंडितमरण, और बालपंडितमरण ये तीन मरण सदा प्रशंसा के योग्य हैं.'

आगे पाँच मरणों के सम्बन्ध में कहा है[३] कि वीतराग केवली भगवान् के निर्वाण-गमन को 'पंडित-पंडितमरण' देशव्रती श्रावक के मरण को 'बालपंडितमरणं' आचारांग शास्त्रानुसार चारित्र के धारक साधु-मुनियों के मरण को 'पंडितमरण'' अविरतसम्यग्दृष्टि के मरण को 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टि के मरण को 'बाल-बालमरण कहा है. भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन ये तीन पंडित मरण के भेद हैं. इन्हीं तीन का ऊपर संक्षेप में वर्णन किया गया है.

आचार्य शिवार्य ने इस सल्लेखना के करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि का दान देने तथा आदरभक्ति प्रकट करने वालों को पुण्यशाली बतलाते हुए बड़ा सुन्दर वर्णन किया है. वे लिखते हैं,[४]

---

१. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव ।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ।—भग० आराधना गा० २६.

२. पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसन्ति ।—भग० आराधना गा० २७.

३. पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरन्ति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण ।
पाओवगमणमरणं भत्तपण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स ।
अविरदसम्मादिट्ठी मरन्ति बालमरणे चउत्थहम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ।—भग० आराधना गा० २८, २९, ३०.

४. ते सूरा भयवन्ता आइच्चइऊण संघमज्झम्मि ।
आराधणा-पडाया चउप्पयारा धिया जेहिं ।
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो व तेहि सव्वेहिं ।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि संपुण्णा ।
किंणाम तेहि लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्तं ।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं ।
ते चिय महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादर - सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'वे मुनि धन्य हैं जिन्होंने संघ के मध्य में समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार की आराधनारूपी पताका को फहराया'.
'वे ही भाग्यशाली हैं और ज्ञानी हैं तथा उन्होंने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त कर उसे सम्पन्न किया है'.

'जिस आराधना को संसार में महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस आराधना को जिन्होंने पूर्णरूप से प्राप्त किया उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ?'

'वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते हैं.'

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते हैं वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्नपूर्ण करके सिद्धपद को प्राप्त होते हैं.'

'वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं जो पापकर्म रूपी मैल को छुटाने वाले तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ स्नान करते हैं. अर्थात् क्षपक के दर्शन-वन्दन-पूजन में प्रवृत्त होते हैं.'

'यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनों से सम्बन्धित होने से तीर्थ कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणराशि क्षपक, तीर्थ क्यों नहीं कहा जायेगा[1] अवश्य कहा जायेगा. उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दना का होता है.'

'यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वाले के लिए पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एवं दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुण्य का संचय क्यों नहीं होगा ? अपितु अवश्य होगा.'
'जो तीव्र भक्ति सहित आराधक की सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुष की भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है अर्थात् वह उत्तम गति को प्राप्त होता है.'

क्या जैनेतर दर्शनों में यह महत्त्वपूर्ण विधान है ?

यह सल्लेखना जैनेतर जनताके लिए अज्ञात विषय है, क्योंकि जैन साहित्यके सिवाय अन्य साहित्यमें उसका कोई वर्णन उपलब्ध नहीं होता. हाँ, ध्यान या समाधि का विस्तृत कथन मिलता है, पर उसका अंत:क्रिया से कोई संबंध नहीं है. उसका संबंध केवल सिद्धियों को प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कार से है. वैदिक साहित्य में सोलह संस्कारों में एक अन्त्येष्टि संस्कार आता है[1] जिसे ऐहिक जीवन के अंतिम अध्याय की समाप्ति कहा गया है[2] और जिसका दूसरा नाम मृत्यु-संस्कार है. यद्यपि इस संस्कार का अन्त:क्रिया से संबंध है किन्तु वह सामान्य गृहस्थों का किया जाता है. सिद्ध—महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुओं का नहीं, जिनका परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता और न जिन्हें अन्त्येष्टि—क्रिया की आवश्यकता

जो उवविधेदि सव्वादरेण आराधणां खु अण्णस्स ।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ।
ते वि कदत्था धण्णा य हुन्ति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायन्ति खवय-तित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ।
गिरि-णदिआदिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ।
पुव्व-रिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वन्दओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ।
जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्व-भत्ति-संजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ।—शिवार्य, भ० आ० १९९७–२००५.

१.-२. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार पृ० २९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही रहती है.[1] इनके तो जल-निखात या भू-निखात के उल्लेख मिलते है.[2] यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदू धर्म में अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओं में मृत-व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओं के लिये प्रार्थनाएं की जाती हैं. हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम संकेत मिलता है. जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिये प्रार्थना बहुत कम है[3]. जब कि जैन सल्लेखना में पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष की भावना निहित है लौकिक एषणाओं की उसमें कामना नहीं है. एक बात यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णयसिंधुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दुःखित अर्थात् चौर व्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिये भी संन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतों को दिया है.[4] इनमें बतलाया गया है कि संन्यास लेने वाला आतुर अथवा दुःखित यह संकल्प करता है कि "मैंने जो अज्ञान प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया उन सब का मैं त्याग करता हूँ और सब जीवों के लिये अभयदान देता हूँ तथा विहार करते हुए किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा." पर यह सब कथन संन्यासी के मरणान्त समय के विधि-विधान को नहीं बतलाता, केवल संन्यास लेते समय की जाने वाली चर्या का दिग्यदर्शन कराता है. स्पष्ट है कि यहाँ संन्यास का वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो सल्लेखना का अर्थ है. संन्यास का अर्थ है यहाँ साधु-दीक्षा, किंवा, कर्मत्याग या संन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ संन्यास के अन्तर्गत मरण समय में होने वाली क्रिया विशेष[5] (कषाय एवं काय का कृषीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से बचाना तथा आचरित धर्म की रक्षा करना) है. अतः सल्लेखना जैनदर्शन की एक अनुपम देन है, जो पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उज्जवल बनाती है. इस क्रिया में रागादि कषाय से युक्त होकर प्रवृत्ति न होने के कारण सल्लेखना धारी को आत्मबध का भी दोष नहीं लगता.

---

१. डा० राजवली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार पृ० ३०३.

२. डा० राजवली पाण्डेय, हिन्द् संस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकर भट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४७.

३. डा० राजवली प्राण्डेय, हिंदू संस्कार, पृष्ठ ३४६.

४. संन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा संन्येसच्च गृहादपि ।
बनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरी वा थ दुःखितः ।
उत्पन्ने संकटे घोरे चौर-व्याघ्रादि गोचरे ।
भयभीतस्य संन्यासमं गिरा मनुरब्रवीत् ।
यत्किंचि द्बाधकं कर्म कृमाज्ञानतो मया ।
प्रमादालस्यदोषाय तत्तंसंत्यक्त वानहम् ।
एवं संत्यज्य भूतेभ्य दद्याद भय दक्षिणाम् ।
पभ्दयां कराभ्यां विहरन्नाहं वाक्यायमानसैः ।
करिष्ये प्राणिनां हिंसा प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४५.

५. वैदकि साहित्य में यह क्रिया विशेष भृगुपतन, अग्नि प्रवेश आदि के रूप में स्वीकृत है. (शिशुपाल वध ४.२३ की टीका विवंद जैनसंस्कृत में इसे लोक मूढता कहा है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org